प्रथम अध्याय

प्राण-परिभाषा, प्राण की उत्पत्ति, प्राण का व्यापक रूप, प्राण का वैयक्तिक संस्थान, प्राण, अपान, समान, व्यान, और उदान.

प्राण क्या है ? यजुर्वेद इसे पुरुष के श्रोत्र से उत्पन्न कहता है, परन्तु ऋग्वेद तथा अथर्ववेद इसे पुरुष का ही अंग मानते हैं और उससे वायु की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं ।[1] छान्दोग्य उपनिषद् के पाँचवे प्रपाठक तथा बृहदारण्यक के छठे अध्याय में ऋषि प्राण को ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ कहते हैं । ज्येष्ठ का अर्थ है आयु में सबसे बड़ा, श्रेष्ठ का अर्थ है गुणों के कारण सबसे बड़ा । मुण्डक उपनिषद् प्राण को पुरुष से उत्पन्न मानते हैं-

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च
खं वायुः ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।।"[2]

यद्यपि वे परब्रह्म पुरुषोत्तम निराकार और मन, इन्द्रिय आदि कारण समुदाय से सर्वथा रहित है तथा सब कुछ करने में समर्थ हैं । इन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तम से ही सृष्टि काल में प्राण, तन, अन्तःकरण और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तथा आकाश वायु, तेज, जल और पृथ्वी - ये पाँचों महाभूत सबके सब उत्पन्न होते हैं ।

प्राण पुरुष से सर्वप्रथम उत्पन्न होता है। यह पुरुष दिव्य अद्भुत अप्राण तथा अक्षर जीवात्मा से भी श्रेष्ठ है । मन, इन्द्रिय आदि प्राण के उपरान्त उत्पन्न होते हैं ।

1- वैदिकी-आचार्य मंगीराम शर्मा, पृ० 131

2- मुण्डकोपनिषद- 2-1-3

छान्दोग्य सप्तम अध्याय के पन्द्रहवें खण्ड में प्राण को पिता, माता, भ्राता स्वसा तथा ब्राह्मण कहा गया है, तीसरे अध्याय के चौदहवें खण्ड में आत्मा को मनोमय और प्राण को उसका शरीर कहा है।[1]

बृहदारण्यक 1-5-4 में मन को आन्तरिक्ष को द्युलोक कहा गया है। प्राण अंगिरस भी है, वह अंगों का रस है और इस प्रकार वह वायु ही नहीं गुणों में भी सर्वश्रेष्ठ है, अतः प्राण अनात्म है। इच्छा में तेज के पश्चात् उसी का स्थान है। रूद्र, या मरुत अध्यात्म में प्राण हैं। प्राण आत्मा का निःस्वार्थ सेवक है। इन्द्रियादि (जिनमें किसी को रूप चाहिए, किसी को रस, किसी को शब्द, किसी किसी को गन्ध या स्पर्श:) आत्मा के सहायक बने या न बने निःस्वार्थ प्राण को तो सेवा करनी है। स्वार्थी व्यक्ति लोभ के शिकार हो जाते हैं पर स्वार्थ रहित एवं परमार्थ निरत व्यक्तियों को कौन वशीभूत कर सकता है? उपनिषद् की एक गाथा के आधार पर असुर निस्वार्थ प्राण शक्ति के द्वारा ही पराजित हो सके। दिव्यता को जब प्राण शक्ति का सख्यित्व प्राप्त हो गया तो वह निर्भय तथा विजयिनी हो गई।

मरुद्भिरिन्द्र सख्यते अस्तु अयेमा शिवा पूतना जयति।"

प्राण जहाँ सैनिक है वहाँ वैद्य तथा औषधि भी है। यह आत्मा की सेवा में निरन्तर लगा रहता है और शरीर को निरोग बनाकर आत्मा के कार्यक्षेत्र को सक्षमता तथा अर्हता देता रहता है।

"प्राण वाववसव: एते हीदं सर्वं वासयन्ति।"

प्राण भी वसु है, क्योंकि यही सबको बसाते हैं, निवास की योग्यता देते हैं जो बसा ही नहीं स्थिर न हुआ, वह निश्चिंत होकर उन्नयन के पथ पर कैसे चलेगा? आगे बढने के लिए निष्कण्टक परिस्थिति चाहिए, जिसमें निवास भोजन तथा विश्राम की व्यवस्था अपरिहार्य है।

1-छान्दोग्यउपनिषद् अध्याय 3, 6, 1, 4, 15 खण्ड

जब वासवी प्राण शक्ति से सम्पन्न होकर प्राणी आगे बढता है तो रौद्र प्राण -शक्ति उसे अधोगति की कष्टमयी अवस्था का अनुभव कराती है । उपनिषद् के शब्दो में "प्राण वावरुद्रा एते हीदं सर्वम् रोदयन्ति" रुद्र प्राण रुलाने वाले हैं। बिना रोये कभी सुख हस्तगत नहीं होता । हंसना, गाना, और सो जाना जीवन का ध्येय नहीं है । जीवन कर्मठता में चरितार्थ होता है और कर्मठता सदैव क्लेशाक्रान्त रहती है । अध्यवसाय, उद्योग परायणता, दिन रात काम में लगे रहने से नस नस हिल जाती है, पर यह थकना, थकनाचूर होना शान्तानन्द की विश्राममयी अवस्था के लिए आवश्यक है । उपनिषद् इसीलिए कहती है " प्राणावाव आदित्य एते हीदं सर्वमाददते ।" प्राण निश्चित रूप से आदित्य है, क्योंकि इससे सब कुछ स्वायत्त हो जाता है ।

जो समाज या राष्ट्र ऊँचे उठते हैं, वे प्राण के बल पर सुख एवं समृद्धि का तो उपयोग करते हैं, दर्शन तथा धर्म के क्षेत्र में भी कार्य कर जाते हैं । जो सामयिक ही नहीं, दीर्घकाल व्यापी प्रभाव भी रखते हैं वे भविष्य में भी युग युगान्तरों तक वे मानवता का पथ प्रदर्शक करते रहते हैं । वे सच्चरित्र का ऐसा मापदण्ड उपस्थित कर जाते हैं तो व्यक्तियों तथा जातियों द्वारा अनुभूत होकर विश्व में शान्ति की स्थापना में सहायक बनता है । विकास के लिए शान्ति का वातावरण अपेक्षित है । अशान्ति, कलह, उपद्रव, तनाव, संघर्ष आदि में तो मानव विकास की बात सोच ही नहीं सकता । शान्त, सम, एवं सन्तुलित अवस्था में ही सोचना, चिंतन करना संभव है और सुचारु चिंतन ही भावी पथ को प्रशस्त करता है।

इस प्रकार उदान प्राण से हम दीर्घायु तथा उत्थान की शिक्षा ग्रहण करते हैं " उदीर्ध्व जीवो असु आगात्" मन्त्र पद में "उदीर्ध्व" शब्द उत्थान की तथा "अगन्म यन्तप्रतिरन्तः वायुः "मंत्रपद दीर्घायु की सूचना देता है । पर यह सब "असु" अर्थात् प्राण के आगमन और उसकी उपस्थिति में ही संभव है । प्राण की अन्य प्रक्रियायें भी हमें कुछ न कुछ शिक्षा दे रही है । प्राण हमें ओम् का जाप सिखाकर मूल तत्व की ओर ले जाता है इसके लिए वह सतत जागरुक रहकर हमें यज्ञ परायण तथा परहित निरत रहने का शिक्षा देता है ।

"प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे" प्राण के अधीन समग्र संसार है,

---

1-अथर्ववेद-सूक्त-4 काण्ड 11 मंत्र 1

वह सबका ईश है, स्वामी है, शासक है । प्रत्येक सत्ता उसी में प्रतिष्ठित है । सबके अस्तित्व का वही एक मात्र कारण है । "स्व हि विश्वभेषज:" - प्राण समस्त रोगों की औषधि है । वह शरीर में प्रवेश करता है तो दक्ष या बल का संचार होता है । शारीरिक जड़त्व उसी के कारण क्रियाशीलता में परिणत होता है । यह क्रिया यदि ऊर्ध्वगामिनी हो गई तो शरीर में दिव्यता का आधान होने लगता है । प्राण प्राण के साथ मैत्री का अभाव दिव्यता को दूर भी कर देता है । अत: प्राण के साथ विसंवादिता नहीं, सर्वादी स्वर चलना चाहिए ।

संक्षेप में प्राण से जीवन, अपान से दोषों की क्षीणता, समान से बाह्य तत्वों को आत्मसात् करना अपना बनाना, व्यान से व्यापकता, सब तक पहुँचना, सब का ध्यान रखना, उदान से ऊँचा उठना, विकसित करना, दिव्य बनाना, संस्कृत होना, एक नहीं सभी उन्नत प्राणियों के जीवन अनुभव का सार है । व्यक्ति एवं समाज दोनों की उन्नति प्राण की पद्धति बन सके तो कल्याण ही कल्याण है ।

प्राण हमारी स्वस्थता तथा अस्वस्थता का द्योतक भी है । प्रश्न के अभाव में चलती हुई नाड़ी हाथ रखते ही बता देती है कि हमारे शरीर में वात का प्राबल्य है, अथवा पित्त या कफ का । ऊष्मा सन्तुलित है, न्यून है, या अधिक है, यह भी प्राण द्वारा जान लिया जाता है । किसी जाति की निराभयता का ज्ञान भी उसकी प्राण शक्ति द्वारा हो जाता है । मन नियामक है, पर कार्य तो प्राण शक्तिद्वारा ही संचालित होता है । मन कुछ दूर भी हो सकता है पर प्राण तो हमारा सतत साथी है, दूर कभी होता ही नहीं ।

प्राण हम सबका साथी है । मरने पर शरीर से जो कुछ निकल जाता है उसमें चेतना और प्राण का ही भाग विशेष है । शरीर के हाड़-मांस, रक्त नस आदि सब यहीं रह जाते हैं । यदि हम चेतन हैं तो प्राण हमारा अभिन्न साथी है । यही हमारे साथ जाता है । निकलने और मरने की बात न भी कही जाये केवल जीवित प्राण की क्रियाओं पर ध्यान दिया जाये तब भी प्राण चेतना का अभिन्न अंग जान पड़ता है । जाग्रतावस्था में आँखें, कान, रसना,

हाथ, पैर आदि सभी साथ दे रहे हैं, स्वप्नावस्था में ये सभी सो जाते हैं। इनके साथ क्या प्राण भी सो जाता है ? नहीं, इसकी क्रिया स्वप्न में भी चलती रहती है, एक पल के लिए भी प्राण का स्पन्दन बन्द नहीं होता है-

ऊर्ध्व सप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् निषद्यते ।
न सुप्तमस्य सुप्तेषु अनुजाघाय कश्चन ।।

सबके सो जाने पर भी यह प्राण खड़ा रहकर जागता है, कभी तिरछा गिरता नहीं, सबके सो जाने पर इसका सोना किसी ने भी सुना नहीं है। चेतना ज्ञान सोचना समझना, कल्पना, करना सभी जीवन शक्ति पर अवलम्बित है, अतः प्राण को धिति का सतत साथी कहा जाता है।

ऐसे साथी की बात मानने योग्य है। छान्दोग्यपनिषद् में प्राण को ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ कहा गया है इसका अर्थ है प्राण सृष्टि का स्पन्दन है। रचना में सर्वप्रथम उसी की उत्पत्ति हुई। अतः उत्तम पदार्थों में वह ज्येष्ठ है, आयु में सबसे बड़ा है। वह श्रेष्ठ भी है क्योंकि उसी के बल पर इन्द्रियों के कार्य सम्पादित होता है। उसकी अनुपस्थिति में आँख, कान आदि सब शक्ति शून्य हो जाते हैं तो प्राण केवल साथी ही नहीं वह ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ साथी हैं। अतः वह जो जपता है, जो कहता है और जो करता है, वह हम सबके लिए माननीय ही नहीं अनुकरणीय भी है।

प्राण अपने लिए कुछ करता ही नहीं, जो कुछ करता है दूसरो के लिए करता है। उसी के कारण आँख, कान, मन आदि का तेज बढ़ता है। परिश्रम प्राण करता है फल इन्द्रिय अवयवों को मिलता है।

प्राण की परहित वृत्ति ही उसे श्रेष्ठता प्रदान करती है[1]. इस वृत्ति को यज्ञ का नाम भी दिया जाता है, जिसे श्रेष्ठ कर्म की संज्ञा प्राप्त होती है। प्रजा, रचना, ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक योनिगत शरीर के भीतर यज्ञ चल रहा है,

---

1-अथर्ववेद-सूक्त 4, काण्ड 11 मंत्र 25

निस्वार्थ परहित वृत्ति क्रियाशील है । गीता में इसे चक्र प्रवर्तन कहा है । जो इस चक्र प्रवर्तन यज्ञ का अनुवर्तन नहीं करता, वह अघायु, इन्द्रियाराम, तथा व्यर्थ जीवन व्यतीत करने वाला है ।

अत: प्राण जैसे श्रेष्ठ साथी की सभी बातों को मानना और उनका अनुकरण करना हमारा मुख्य धर्म हो जाता है । प्राण क्या कहता है ? अपने स्वर में क्या जपता है ? प्राण ध्वनि में निश्चित रूप से "ओइम" ध्वनि निकल रही है । जिसे प्रणव तथा उद्गीथ भी कहा जाता है। प्रणव प्रकृष्ट रूप से नवीन है, उसमें ताजगी है, बासीपन नहीं । उदगीथ उपर की ओर गमन या गान है, जो गायक को ऊर्ध्व दिशाओं की ओर ले जाता है । प्राण इस "ओइम" का जाप निरन्तर बिना किसी अन्तराल से किया करता है । यह उसका सहज स्वाभाविक कार्य है । किसी की प्रेरणा से नहीं, स्वत: उद्भूत यह जाप प्राण का स्वरूप ही है । "ओइम" में ही प्राण की प्रतिष्ठा है । इसी कारण प्राण देव है । प्राण के संचारण में न कभी जरा व्याप्त होती है और न कोई रोग यह सतत तरुण बना रहता है ।

प्राण "ओइम" का जाप करता है, छन्दोग्य के प्रारंभ में आदित्य को भी ओइम का जाप करने वाला कहा गया है । वास्तव में आदित्य भी प्राण है। वह प्रजामात्र का प्राण अर्थात् जीवन है । अत: प्रत्यागतियों में भी "ओइम" स्वर निकल रहा है । छान्दोग्य ही नहीं, ऋग्वेद की कतिपय ऋचाओं में भी इस तथ्य का कथन है ।

छान्दोग्य के अनुसार "ओइम" में ऋक् और साम, तथा शक्ति मिले हुए हैं । अब हम "ओम" की व्याख्या आरंभ करते हैं ।

इन चराचर जीवों का रस आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का रस आधार अथवा कारण जल है, जल का रस उस पर निर्भर करने वाली औषधियाँ है, औषधियों का रस उनसे पोषण पाने वाला मनुष्य शरीर है, मनुष्य का रस प्रधान अंग वाणी है, वाणी का रस सार ऋचा है । जिनके अक्षर पाद और समाप्ति ये नियत संख्या के अनुसार, होते हैं, उन मंत्रो को ऋक् कहते हैं, जिनके अक्षर आदि की कोई नियत संख्या या क्रम न हो, उन्हें यजु कहते हैं । ऋक् संज्ञक मंत्रो में ही जो गीत प्रधान

है, उनकी "साम" संज्ञा है। ऋचा का रस साम है, और साम का रसउद्गीथ रूप ओंकार है। वह समस्त रसों में उत्कृष्ट है, यह सर्वश्रेष्ठ एवं परब्रह्म परमात्मा का आश्रय है। अब कौन कौन ऋचा है कौन कौन साम है तथा कौन कौन उद्गीथ है- इस पर विचार करते हैं। वाणी की ऋचा है, प्राण साम है। "ॐ" यह अक्षर ही उद्गीथ है। जो वाणी और प्राण तथा ऋचा और साम है, यह एक ही जोड़ा है। वाणी और प्राण का अथवा ऋचा और साम का यहजोड़ा "ओइम" रूप इस अक्षर मेंभली-भाँति संयुक्त किया जाता है। यह वाणी और प्राण का जोड़ा जब ओंकार में लगाया जाता है तब वह सदा के लिए पूर्णकाम कृतकृत्यहो जाता है।

यह"ओइम" रूप अक्षर अनुज्ञा अर्थात अनुमतिमूलक भी है, क्योंकि मनुष्य जब किसी बात के लिए अनुमति देता है, तब "ओइम" इस शब्द का ही उच्चारण करता है। ओंकार से ही ऋक् यजुः और साम- ये तीनों वेद अथवा इन तीनों वेदों में वर्णित यज्ञादि कर्म आरंभ होते हैं। इस ओंकार रूप अक्षर की अर्थात इसके अर्थभूत अविनाशी परमात्मा की पूजा प्रीति के लिए इसी की महिमा ॥प्रभाव॥ एवं रस ॥भक्ति॥ से"ओइम" यह कह कर ही होता नाम का ऋत्विक् आह्वावण करता है। मंत्र कहता है "ॐ" यह कह कर ही होता नामक ऋत्विक् "शासन" करता है। मंत्रों का पाठ करता है और "ॐ" यह कह कर ही "उद्गाता" उद्गीथ का गान करता है।

प्राण के द्वारा मनुष्य न तो सुगंध का अनुभव करता है और न दुर्गन्ध का ही, क्योंकि इसके सम्पर्क में आकर तो राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं इसके द्वारा मनुष्य जो कुछ खाता है औरजो कुछ पीता है उससे वह मन इन्द्रियादि अन्य प्राणों की भी रक्षा करता है। अन्तकाल में इसी को न पाकर अर्थात इसके न रहने पर इसके साथ ही साथ अन्य सब प्राणों को लेकर जीवात्मा भी शरीर से उत्क्रमण कर जाता है। इसलिए अन्त समय में जीवन अपना मुँह अवश्य खोल देता है यही प्राण की महिमा है।

यह प्रसिद्ध है कि अंगिरा ऋषि ने प्राण को ही प्रतीक बना कर "ओंकार" स्वरूप परमात्मा की उपासना की थी। अतः लोग इसी को "आंगिरस" का

उपास्यमानते हैं, यही समस्त अंगों का रस पोषक है । इसी से बृहस्पति ने भी प्राण रूप से उद्गीथ की - ओंकार वाच्य परमात्मा की उपासना की थी । परन्तु लोग प्राण को ही "बृहस्पति" मानते हैं क्योंकि वाणी का एक नाम "बृहती" भी है और उसका यह पति रक्षक है । इसी का आयास्य नाम के प्रसिद्ध ऋषि ने भी प्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना की थी परन्तु लोग इस प्राण को ही "आयास्य- मानते हैं, क्योंकि यह आस्य अर्थात मुख के द्वारा आता जाता है । दस्य के पुत्र वक नाम ऋषि ने प्राण की उपासना रूप साधन से उद्गीथ अर्थात "ओंकार" के अर्थरूप परमात्मा को जाना था वह प्रसिद्ध ऋषि नैमिषारण्य में यज्ञ करने वाले ऋषियों के उद्गीथक हुए थे और उन्होंने इन यज्ञ करने वाले ऋषियो के लिए उनकी कामना पूर्ति के उद्देश्य से उद्गीथ का गान किया था । प्राण के महत्व को इस प्रकार जानने वाला जो उपासक अक्षर- ओंकार रूप उद्गीथ की उपासना करता है वह निस्संदेह ओंकार के गान द्वारा अपनी मनोवांछित वस्तु को आकर्षित करने में समर्थ होता है ।[1]

जब ओंकार की आधिदैविक उपासना का वर्णन किया जाता है जो यह सूर्य तपता है उसी की उद्गीथ के रूप में उपासना करनी चाहिए । यह सूर्य उदय होते ही मानो समस्त प्रजा के लिए अन्न आदि की उत्पत्ति के उद्देश्य से उद्गान करता है उनकी उन्नति के कारण बनता है, इसीलिए यह उद्गीथ है इतना ही नहीं यह उदय होते ही भय का नाश कर देता है । अतः जो इस प्रकार सूर्य के प्रभाव को जानता है वह स्वयं जन्म मृत्यु के भय एवं अज्ञान रूप अंधकार का नाशक बन जाता है । यह प्राण और वह सूर्य दोनों समान ही हैं, क्योंकि यह मुख्य प्राण ऊष्ण है और सूर्य भी गरम है । इस प्राण को लोक "स्वर" (स्वयं क्रिया शक्ति वाला) एवं "प्रत्यास्वर" "दूसरो को क्रियाशक्ति प्रदान करने वाला दोनों नामों से पुकारते हैं, इसीलिए इस प्राण एवं उस सूर्य के रूप में उस उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए ।

1-आर्षग्रन्थावली छान्दोग्यउपनिषद्-प्रपाठक-1 खण्ड 3

व्यान के रूप में भी उदगीथ की उपासना करनी चाहिए । मनुष्य जो श्वास के द्वारा भीतर की वायु को बाहर निकालता है वह प्राण है, और जो प्राण की वायु को भीतर ले जाता है वह अपान है तथा जो प्राण और अपान की संन्धि है अर्थात जिससे ये दोनो मिल जाते हैं वह व्यान है जो व्यान है वही वाणी है। पहले जिस प्राण की वाणी और ऋचा की साथ एकता की गई है वही प्राण यहाँ व्यान के नाम से कहा गया है वहाँ प्राण शब्द से प्राण के समष्टिरूप का वर्णन किया गया है, केवल श्वास को बाहर निकालने की क्रिया का नाम ही वहाँ प्राण नहीं है, यह बात ध्यान देने योग्य है इसीलिए मनुष्य श्वास को बाहर निकालने और भीतर खींचने की क्रिया न करता हुआ ही वाणी का स्पष्ट उच्चारण करता है, अर्थात सामान्यतया बोलते समय श्वास प्रश्वास की क्रिया बन्द हो जाती है ।

जो वाणी है वही ऋचा है इसीलिए मनुष्य प्राण और अपान की क्रिया न करता हुआ ही वेद की ऋचाओ का भलीभाँति उच्चारण करता है जो ऋचा है वही साम है क्योंकि "ऋक्" का ही अंश विशेष साम है । इसीलिए मनुष्य प्राण और अपान की क्रिया न करता हुआ ही सामान का गान करता है । जो साम है वही उदगीथ है क्योंकि साम का मुख्य भाग "उदगीथ" है इसीलिए मनुष्य प्राण और अपान की क्रिया न करता हुआ ही उच्च स्वर से उदगीथ का गान करता है अर्थात तीनों में हा व्यान को ही प्रधानता है । व्यान ही तीनों का आधार है इसके अतिरिक्त जो विशेष सामर्थ्य की अपेक्षा रखने वाला कर्म है, जैसे काष्ठ मन्थन द्वारा अग्नि को प्रकट करना एक नियत सीमा तक दौड़ लगाना, कठोर धनुष को खींचना इत्यादि । इन सबको मनुष्य प्राण और अपान को रोककर व्यान के बल से ही करता है । इस प्रकार व्यान की श्रेष्ठता और अपान को सिद्ध हो जाने के कारण व्यान के रूप में ही उदगीथ की उपासना करनी चाहिए ।

इनमें पहला "उत्" की प्राण है, क्योंकि मनुष्य प्राण से ही उत्थान करता है और "उत्" उत्थान का वाचक है । दूसरा "गी" वाणी "वाणी का द्योतक है क्योंकि वाणी को "गी" इस नाम से पुकारते हैं, और तीसरा "ग "

अन्न का वाचक है क्योंकि यह सारा अन्न के आधार पर स्थित है, और "य" स्थिति का बोधक है "उत्" ही स्वर्गलोक है "गी" अन्तरिक्ष लोक है और "थ" भूलोक है । उत् ही आदित्य है "गी" वायु है और "थ" अग्नि है । "उत्" ही सामवेद है "गी" यजुर्वेद और "थ" ऋग्वेद है ।

जो उदगीथ गाने योग्य परमात्मा है, वही ओंकार है । जो प्रणव है वही उदगीथ है क्योंकि नाम और नामी में कोई भेद नहीं होता है । वह आकाश में विचरने वाला सूर्य ही उदगीथ है और यही प्रणव भी अर्थात् सूर्य में ही परमात्मा और उनके वाचक "ओंम" की भावना करनी चाहिए क्योंकि यह "ॐ" इस प्रकार उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है । यहाँ "स्वरन" इति उच्चारण करता हुआ गमन करता है। इस प्रकार सूर्य शब्द की व्युत्पत्ति कही गई है ।

जो यह श्वास के रूप में चलने वाला मुख्य प्राण है, उसी के रूप में उदगीथ की उपासना करनी चाहिए क्योंकि वह "ॐ" इस प्रकार उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है । प्राण सूर्य रूप में है इसीलिए "स्वरन" इति यहाँ भी इसी प्रकार व्युत्पत्ति की गई है, अर्थात हमारे प्राण के द्वारा निरन्तर ओंकार की ध्वनि हो रही है- ऐसी भावना करते हुए उनमें ओंकार रूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिए ।

प्राण "ओइम" के जाप में डूबा हुआ अपनी सहज गति में अनवरत परहित साधना में संलग्न रहता है । इसमें उसका अपना हित साधन कुछ भी नहीं है ।[1] वह बाहर प्राण समुद्र में डूबकी मारकर शक्ति के कुछ कण शरीर के भीतर ले जाता है और फिर हृदय समुद्र में डूबकी मारकर वहाँ के कुछ कण लेकर बाहर फेंकता है । इस द्विविध क्रिया में एक को प्राण तो दूसरी को अपान कहा जाता है । भोजन के ग्रास जब मुख के अन्दर जाते हैं, तब दाँत उन्हें पीस कर महीन कर देते हैं । दाँतों का यह कार्य प्राण शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है । जब दाँतों में से यह शक्ति निकल जाती है तब वे निरर्थक ही नहीं, कष्ट दायक भी हो जाते है ऐसी दशा में उनका मुख में रहना शत्रु के समान जान पड़ता है ऐसे पीड़क दाँत जब मुख से दूर हो जाते हैं तभी प्राणी सुख का अनुभव करता है ।

1- वैदिकी-आ० मुंशीराम शर्मा,

प्राण के इस प्रकार अन्य कार्य भी है । छींकना, जमाई लेना, आंखों के पलकों को खोलना और बन्द होना या मूंदना आदि कार्य प्राण शक्ति द्वारा ही सम्पन्न होते हैं । इनके पारिभाषिक नाम कृकल, नाग, देवदत्त, कर्म, और धनजंय हैं ।

प्राण के इन कार्यों से हम शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं । प्राण का प्रमुख कार्य है । जीवन शक्ति का संचार और उसके मार्ग में आने वाले विघ्नों को दूर करना । व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों ही स्तरों पर इस कार्य का सम्पादन होना चाहिए । जीवन अन्न और बल पर अवलम्बित है । हमें अन्न पैदा करना है और पैदा करने की योग्यता भी उपलब्ध करनी है । वैसे दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित अन्योन्याश्रित है । अन्न बल का उत्पादक है और बलवान व्यक्ति ही अन्न पैदा कर सकता है । वेद में इन्हें ईश और ऊर्ज की संज्ञा से अभिहित किया गया है ।

विघ्नों को हटाने के पूर्व विघ्नों को पहचान करना है । इस कार्य में चेतना विशेष रूप से भाग लेती है । ज्ञान के बिना पहचान नहीं होती है जो जितना ही अधिक मतिमान है, समझदार है, बुद्धि से तीव्र है अशुद्ध चेतना सम्पन्न है वह उतना ही अधिक अपनी त्रुटियों विघ्नों आदि पर विचार कर सकता है । पृथक्करण विश्लेषण मीमांसा आदि सुचित और दूषित आदि को खोलकर रख सकते है । पृथक्करण हममें यदि सद्बुद्धि होगी, सुरुचि की ओर आकर्षित कर देगा और दूरित से हटा देगा । यह महती उपलब्धि है और प्राणशक्ति की देन है । मर्दि यदि विघ्नों का अपनयन हो गया तो स्वस्थता का सम्पादन भी प्राण द्वारा सुलभ हो जायेगा ।

जैसे शरीर में पोषक और शोषक तत्वहोते हैं वैसे ही समाज में भी जीवन निर्माण के लिए पोषक तत्वों को अपनाने और शोषको तत्वों को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए । समाज में यदि शोषण करने वाले बढ़ गए तो प्रजा धन धान्य से दरिद्र होकर त्राहि त्राहि करने लगेगी । इसी प्रकार व्यक्ति के शरीर में तिल्ली बढ गई तो शरीर का सम्पूर्ण पुष्टिदायक अंश वहाँ सिमककर पहुँचता रहेगा और शरीर सूख कर काँटा हो जायेगा । रूस में जब शोषक दल उदय हुआ,

श्रमजीवी और कृषक हीनता की कोटि में पहुँच गये, तो कम्युनिज्म का उदय हुआ, जिसने समाज के शोषण को समाप्त किया और प्रजा में अभिनव शक्ति का संचार हुआ । यदि रूस को लेनिन न मिले होते तो रूस जो आज शक्तिशाली देश बन गया, न बन पाता । प्राण ही प्राण उत्पन्न कर सकता है, जीवन से जीवन निकलता है । प्राण शक्ति हमें जीवन निर्माण की ओर ले जाने वाली है ।

समान प्राण समानता का संदेश देता है । मनुष्यों में गुण कर्म, स्वभाव के आधार पर भिन्नता तो होती है पर मनुष्यता या मानवता के नाते सब एक हैं । आत्म तत्व की प्राधानता के कारण भी सब एक हैं । काल विशेष में कुछ आयु में छोटे और कुछ बड़े दिखाई पड़ते हैं, परन्तु जीवन की सम्पूर्ण यात्रा पर विचार किया जाये तो न कोई छोटा है, न कोई बड़ा । इस समय जो वयोवृद्ध दिखाई दे रहा है कुछ वर्षों बाद इस शरीर में निकल कर नया जन्म लेगा और जो शिशु रूप में दिखाई देता है वह कुछ समय पश्चात वृद्ध दिखाई देगा । वेद इसीलिए अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सभ्रातरो वावृधुः सौभागाय" जैसे मन्त्र पद द्वारा सबकी समानता की बात करता है । इस सबको मिलकर समान यात्री के रूप में अभ्युदय के लिए संश्लिष्ट होना चाहिए ।

उदान प्राण का कार्य प्राणी को ऊँचा उठाना है, लम्बाई में भी और गुणों में भी, लम्बाई शरीर की आकृति में तो गुण मानसिक क्षेत्र में अनुभूत होते हैं । उदान यदि शरीर को लम्बा करता है ऊँचा उठाता है तो मनोवृत्ति को उदात्त भी बनाता है । समाज को भी ऊँचा उठाता है ।

वेद कहता है - "उदयानं ते पुरुष नावयानम् पुरुषः" तुझे ऊपर उठाता है, नीचे नहीं गिराता है। "उत्क्रामतः पुरुष मावपत्थाः" पुरुष यहाँ से ऊपर उठ, नीचे मत गिर ।

"आये धामानि दिव्यानि तस्थु" अमृत पुत्र ऊँचे दिव्यधाम में ठहरते हैं।

"कृधो न ऊर्ध्वां चरथाय जीवसे" प्रगतिशील जीवन के लिए हम ऊपर उठें ।

"अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु" हमारे वीर सबके ऊपर विराजमान हों।

" उदायुग स्वायुग" हम वायु अच्छी आयु पाकर ऊपर उठे । एक एक पुरुष ऊँचा उठेगा तो हमारा समाज ऊँचा उठ जायेगा । संस्कृति इसी कार्य की साधिका है । उत्कर्ष चाहे वैयक्तिक हो चाहे सामाजिक, संस्कृति सम्पन्नता का ही ऊपर नाम है, यह संस्कृति उदात्त प्राणवत्ता पर आधारित है ।

इस प्रकार प्राण ही मुख्य है, प्राण के शरीर में छोडने पर पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचो कर्मेन्द्रियाँ, प्राण मन, चित्त, बुद्धि अहंकार सबने प्राण की सत्ता को स्वीकार किया ।

"अरा इव स्यनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचे यजुंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रहम च ।।[1]

अर्थात रथ के चक्र में जैसे अरे जुड़े रहते हैं वैसे प्राण में सब स्थित हैं । ऋक् साम, अर्थात सम्पूर्ण "ज्ञानकाण्ड" एवं यज्ञ अर्थात सम्पूर्ण कर्मकाण्ड प्राण की साधना के लिए ही हैं । संसार को जानने वाली भौतिक शक्ति ब्रहम है । ये भी प्राण पर आश्रित हैं ।

प्रश्नोपनिषद् में प्राण की व्यापकता और प्राण के वैयक्तिक संस्थान पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, नीचे प्राण संबंधी इसी सामग्री का उल्लेख किया जाता है ।

एषो मित्तपत्ये सूर्य एष पर्जन्यो, मेघवानेष वायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ।।[2]

वाणी आदि सब देवता स्तुति करते हुए बोले- यह प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है और यही सूर्य है । यही मेघ इन्द्र और वायु है । यही देव पृथ्वी और रयि (भूत समुदाय) है तथा तो सत और असत् एवं उससे भी श्रेष्ठ जो अमृत स्वरूप परमात्मा है, वह भी यह प्राण ही है ।

1- प्रश्नोपनिषद् -प्रश्नोपनिषदीय प्राण विद्या, पृ0 2
2- वही ।

"देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषिणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ।।[1]

हे प्राण तू देवताओं के लिए हवि पहुँचाने वाला उत्तम अग्नि है । पितरों के लिए पहली स्वधा है और अथर्वाङ्गिरस आदि ऋषियों के द्वारा आचरित (अनुभूत) सत्य भी तू है ।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ।।

हे प्राण तू सब प्रकार के तेज से सम्पन्न लोगों का स्वामी इन्द्र है । तू ही प्रलयकाल में सबका संहार करने वाला रुद्र है और तू ही सबकी भलीभाँति यथायोग्य रक्षा करने वाला है । तू ही अन्तरिक्ष में पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में विचरने वाला वायु है, तथा तू ही अग्नि चन्द्र तारे आदि समस्त ज्योतिर्गणों का स्वामी सूर्य है ।

यदा त्वमभिवर्षस्येषमाः प्राण ते प्रजाः
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ।।

हे प्राण जब तू मेघ होकर पृथ्वी लोक में सब ओर वर्षा करता है तब तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा" हम लोगों के जीवन निर्वाह के लिए यथेष्ठ अन्न उत्पन्न होगा- ऐसी आशा करती हुई आनन्द में मग्न हो जाती है ।

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिस्त्वा विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ।।

हे प्राण तू संस्कार रहित होकर भी एक मात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है । तात्पर्य है कि तू स्वभाव से ही शुद्ध है अतः तुझे संस्कार द्वारा शुद्धि की आवश्यकता नहीं है । प्रत्युत तू तो सबको पवित्र करने वाला एक मात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है । हम लोग सब इन्द्रियों और मन आदि तेरे लिए नाना प्रकार की भोजन सामग्री

1- प्रश्नोपनिषद-प्रश्नोपनिषदीय प्राणविद्या । मु02

अर्पण करने वाले है और तू ही उसे खाने वाला है । तू ही समस्त विश्व का उत्तम स्वामी है । हे आकाशचारी समष्टि वायु स्वरूप प्राण तू हमारा पिता है क्योंकि तुझसे ही हम सबकी उत्पत्ति हुई है ।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या व मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमी ।।

हेप्राण जो तेरा स्वरूप वाणी श्रोत्र, चक्षु आदि समस्त इन्द्रियो में और मन आदि अन्तःकरण की वृत्तियो में व्याप्त है, उसे तू कल्याण बना ले अर्थात तुझमें जो हमें सावधान करने के लिएआवेश आया है उसे शान्त कर ले और तू शरीर से उठकर बाहर न जा यह हम लोगों की प्रार्थना है-

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठतम ।
मातेव पुत्रानरक्षास्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ।।

प्रत्यक्ष दीखने वाले इस लोक में जितने भी पदार्थ हैं और जो कुछ स्वर्ग में स्थित है, वे सबके सब इस प्राण के ही अधीन हैं । यह सोच कर वे इन्द्रियादि देवगण अन्त में प्राण से प्रार्थना करते हैं-

हे प्राण माता अपने पुत्रों की रक्षा करती है उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर तथातू हम लोगों को श्री अर्थात कार्य करने की शक्ति और प्रज्ञा प्रदान कर ।

वह सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, वह परब्रह्म परमेश्वर ही इसका उपादान कारण है और वही इसकी रचना करने वाला है, अतः इसकी स्थिति उस सर्वात्मा महेश्वर के अधीन उसी के आश्रित है- ठीक जिस प्रकार किसी मनुष्य की छाया उसके अधीन रहती है, यह मन द्वारा किये संकल्प से किसी शरीर में प्रवेश करता है । भाव यह है कि मरते समय प्राणी के मन में उसके कर्मानुसार जैसा संकल्प होता है, उसे वैसा ही शरीर मिलता है अतः प्राण का शरीर में प्रवेश मन के संकल्प से ही होता है ।

जिस प्रकार भूमण्डल का चक्रवर्ती महाराज भिन्न भिन्न ग्राम, मण्डल और जनपद आदि में पृथक् पृथक् अधिकारियों की नियुक्ति करता है और उसको कार्य विभक्त कर देता है, उसी प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ प्राण भी अपने अंग स्वरूप अपान, व्यान आदि दूसरे प्राणों को शरीर के के पृथक् पृथक् कार्य के हेतु नियुक्त कर देता है ।

वह स्वयं तो मुख और नासिका द्वारा विचरता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित रहता है तथा गुदा और उपस्थ में अपान को स्थापित करता है उसका काम मल मूत्र को शरीर के बाहर निकाल देना है । शरीर के मध्यभाग नाभि में समान को रखता है । यह समान वायु ही प्राणरूप अग्नि में हवन किये हुए उदर में डाले हुए अन्न को अर्थात् उसके सार को सम्पूर्ण शरीर के अंग-प्रत्यांगो में यथायोग्य सम्भाव से पहुँचाता है । उस अन्न के सारभूत रस से ही इस शरीर में ये सात ज्वालायें अर्थात् समस्त विषयों को प्रकाशित करने वाले दो नेत्र, दो कान, दो नासिकायें और एक मुख रसना। ये सात द्वारा उत्पन्न होते हैं । इस रस से पुष्ट होकर ही ये अपने अपने कार्य करने में समर्थ होते हैं ।

इस शरीर में जो हृदय प्रदेश है, जो जीवात्मा का निवासस्थान है, उसमें एक सौ मूलभूत नाड़ियाँ हैं उनमें से प्रत्येक नाड़ी की एक-एक सौ शाखा नाड़ियाँ हैं और प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर हजार प्रति शाखा नाड़ियाँ हैं इस प्रकार इस शरीर में कुल बहत्तर करोड़ नाड़िया हैं, इन सब में व्यान वायु विचरण करता है ।

इन ऊपर बतलाई हुई बहत्तर करोड़ नाड़ियों से भिन्न भिन्न एक नाड़ी और है जिसको सुषम्ना कहते हैं जो हृदय से निकल कर ऊपर मस्तिष्क में गई है उसके द्वारा उदान वायु शरीर में ऊपर की ओर विचरण करता है । जो मनुष्य पुण्यशील होता है, जिसके शुभकर्मों के भोग उदय हो जाते हैं उसे यह उदान वायु ही अन्य सब प्राण और इन्द्रियों के सहित वर्तमान शरीर में निकलकर पुण्यलोकों में अर्थात स्वर्गादि उच्च लोगो में ले जाते है । पाप-कर्मों से युक्त मनुष्य को शूकर-कूकर आदि निकृष्ट योनियों मे और रौरवादि नरकों में ले

ले जाता है तथा जो पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों का मिश्रित फल भोगने के लिए अभिमुख हुए रहते हैं, उनको मनुष्य शरीर में ले जाता है ।

यह निश्चय पूर्वक समझना चाहिए कि सूर्य ही सबका बाह्य प्राण है । यह मुख्य प्राण सूर्य रूप से उदय होकर इस शरीर के अंग-प्रत्यंगों की पुष्ट करता है और इन्द्रिय आध्यात्मिक शरीर पर अनुग्रह करता है- उसे देखने की शक्ति अर्थात् प्रकाश देता है । पृथ्वी में जो देवता अर्थात अपान वायु की शक्ति है वह इस मनुष्य में रहने वाले अपान वायु को आश्रय देती है । यह अपान वायु की शक्ति गुदा और उपस्थ इन्द्रियों की सहायक है तथा इनके बाहरी स्थूल आकार को धारण करती है । पृथ्वी और स्वर्गलोक के बीच का जो आकाश है वही समान वायु का बाह्य स्वरूप है । यह इस शरीर के बाह्य अंग-प्रत्यंगों को अवकाश देकर इसकी रक्षा करता है और शरीर के भीतर रहने वाले समान वायु को विचरने के लिए शरीर में अवकाश देता है, इसी की सहायता से श्रोत्रेन्द्रिय शब्द सुन सकती है । आकाश में विचरने वाला प्रत्यक्ष वायु ही व्यान का बाह्य स्वरूप है यह इस शरीर के बाहरी अंग प्रत्यंग को गतिशील करता है और शक्ति प्रदान करता है, भीतरी व्यान को नाडियों में संचारित करने तथा त्वक् इन्द्रिय को स्पर्श का ज्ञान कराने में भी यह सहायक है ।

सूर्य और अग्नि का जो बाहरी तेज अर्थात ऊष्णत्व है, वही उदान का बाह्य स्वरूप है ।[1] वह शरीरके बाहरी अंग प्रत्यगों को ठण्डा नहीं होने देता है और शरीर के भीतर की ऊष्मा को भी स्थिर रखता है । जिसके शरीर से उदान वायु निकल जाता है, उसका शरीर गरम नहीं रहता । अतः शरीर की गर्मी शान्त हो जाते ही उसमें रहने वाला जीवात्मा मन में विलीन हुई इन्द्रियों को साथ लेकर उदान वायु के साथ साथ एक शरीरसे दूसरे शरीर में चला

1-प्रश्नोपनिषद्-प्रश्नोपनिषदीय प्राण विद्या ।

जाता है ।

मरते समय इस आत्मा का जैसा संकल्प होता है, इसका मन अन्तिम क्षण में जिस भावं का चिंतन करता है, वह उस संकल्प के सहित मन इन्द्रियों को साथ लिये यह मुख्य प्राण में स्थिर हो जाता है । वह मुख्य प्राण उदान वायु से मिलकर मन और इन्द्रियों के सहित जीवात्मा को उस अंतिम संकल्प के अनुसार यथायोग्य भिन्न भिन्न लोक अथवा योनि में ले जाता है ।

यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में सर्वहुत याग का जो प्रतिपादन है उसमें पुरुष के अंगो को सृष्टि के अवयवों पर बताया गया है । ब्रह्माण्ड में चन्द्रमा पुरुष के मन से उत्पन्न हुआ है । सूर्य चक्षु से उत्पन्न हुआ है और पुरुष के श्रोत्र से वायु तथा प्राण की उत्पत्ति हुई है । वही प्राण और वायु का जनक श्रोत्र है, ऐसा कहा गया है, श्रोत्र का संबंध ध्वनि श्रवण से है, यह ध्वनि आकाश का गुण है वायु भी आकाश से उत्पन्न हुई है, ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् का ऋषि कहता है । आकाश आत्मा से उत्पन्न हुआ है तो वायु आकाश से उत्पन्न हुई है । शरीर में श्रवणेन्द्रिय विशेषतया आकाश से ही संबंध है अतः उससे जो प्राण और वायु उत्पन्न होते हैं वेहआकाश से संबद्ध होकर यजुपुरुष के साथ एक हो जाते हैं ।इस विवरण में प्राण और वायु सहोदर हैं । जहाँ प्राण होगा वहाँ वायु होगी और जहाँ वायु होगी वहाँ प्राण होगा । प्राण में "प्र" उपसर्गपूर्वक "अन्" धातु जीवन देने वाली है । अतः प्राण जीवन प्रदाता है, यह सभी को स्वीकार्य होगा । जो कुछ प्राण के संबंध में कहा गया है वही वायु के संबंध में कहा अप्रयुक्त जा सकता है । वायु विश्वम्भर का जीवन है । इसी से सृष्टि के विकास क्रम में अग्नि, उससे जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति है, अतः सृष्टि के मूल में वायु है, ऐसा पौरस्त्य एवं पाश्चात्य सभी मनीषियों का अभिमत है । रात्रि के बाद जब सूर्य उदय होकर पूर्व दिशा में अपना प्रकाश फैलाता है, उस समय वहाँ के प्राणियों के प्राणों को किरणों में धारण करता है, अर्थात् उनकी जीवन शक्ति का सूर्य की किरणों से संबंध होकर उसमें नवीन स्फूर्ति आ जाती है । इसी प्रकार जिस समय जिस दिशा में अपना प्रकाश फैलाता है, वहाँ-

वहाँ प्राणियों को स्फूर्ति देता रहता है, अतः सूर्य ही समस्त प्राणियों का प्राण है ।

प्राणियो के शरीर में जो वैश्वानर नाम से कही जाने वाली जठराग्नि है, जिससे अन्न का पाचन होता है, वह सूर्य का ही अंश है, अतः सूर्य ही है तथा जो प्राण, अपान, व्यान और उदान इन पाँच रूपोंमें विभक्त जो प्राण है वह भी इस उदय होने वाले सूर्य का ही अंश है, अतः सूर्य ही है ।[1]

सूर्य के सत्त्व को जानने वालों का कहना है कि यह किरण जालमें मण्डित एवं प्रकाशमय तपता हुआ सूर्य विश्व के समस्त रूपो का केन्द्र है । सभी रूप रंग और आकृतियाँ सूर्य से उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं । यही सविता ही सबका उत्पत्ति स्थान है, यही सबकी जीवन ज्योति का मूल स्रोत है । यह सर्वज्ञ और सर्वाधार है, वैश्वानर, अग्नि, और प्राणशक्ति के रूप में सर्वत्र व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है । समस्त जगत् का प्राण रूप सूर्य एक ही है– इसके समान इस जगत् में दूसरी कोई भी जीवनी शक्ति नहीं है । यह सहस्रों किरणो वाला सूर्य हमारे सैकड़ो प्रकार के व्यवहार सिद्ध करता हुआ उदय होता है । जगत् में उष्णता और प्रकाश फैलाना सबको जीवन प्रदान करना, ऋतुओ का परिवर्तन करना आदि हमारी सैकड़ो प्रकार की आवश्यकताओ को पूर्ण करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टि का जीवनदाता प्राण ही सूर्य के रूप में उदित होता है ।

1–यजुर्वेद–पुरुषसूक्त, प्रश्नोपनिषदीय– प्रश्नोपनिषदीय प्राणविद्या

प्राण और वायु

जो प्राण है, वह वायु है । वह वायु पाँच प्रकार का है- प्राण अपान, व्यान, उदान और समान अर्थात् वह वायु ही अध्यात्मभाव को प्राप्त होकर पाँच अवस्था वाला होकर विशेष स्वरूप से स्थित हुआ प्राण कहा जाता है । प्राण भी इस शरीर में जीव के समान स्वतंत्र है, क्योंकि वह श्रेष्ठ है और वाक् आदि की इन्द्रियाँ उसके अंग हैं क्योंकि प्राण की अनेक प्रकार की विभूतियाँ श्रुति में प्रतिपादित हैं- " सप्तेषु वागादिषु" निश्चयही वागादि इन्द्रियो के लीन होने पर प्राण अकेला जाग्रत रहता है, प्राण ही अकेला मृत्यु से आप्त नहीं होता, वागादि का संरक्षण करता है अतः प्राण संवर्ग है जैसे माता पुत्रों का रक्षण करती है वैसे प्राण अन्य प्राणो का रक्षण करता है इसलिए प्राण जीव के समान स्वतंत्र है ।[1]

यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में सर्वहुत यज्ञ का जो प्रतिपादन है, उसमें पुरुष के अंगो को सृष्टि के अवयवों पर बतलाया गया है। ब्रह्माण्ड में चन्द्रमा पुरुष के मन से उत्पन्न हुआ है, सूर्य चक्षु से उत्पन्न हुआ है और पुरुषो के श्रोत्र से वायु तथा प्राण की उत्पत्ति हुई है । यहाँ प्राण और वायु का जनक श्रोत्र है, ऐसा कहा गया है ।[2]

श्रोत्र का सम्बन्ध ध्वनि श्रवण से है । यह ध्वनि आकाश का गुण है । वायु की उत्पत्ति भी आकाश से हुई है, ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् का ऋषि कहता है । आकाश आत्मा से उत्पन्न हुआ है, तो वायु आकाश से उत्पन्न हुई है । शरीर में श्रवणेन्द्रिय विशेषतः आकाश से ही संबंध है, अतः उससे जो प्राण और वायु उत्पन्न होते हैं आकाश से संबंध होकर यज्ञ पुरुष के साथ एक हो जाते हैं ।[3]

इस विवरण में प्राण और वायु सहोदर हैं। जहाँ प्राण होगा, वहाँ वायु होगी और जहाँ वायु होगी, वहाँ प्राण होगा । अतः प्राण और वायु का

1- ब्रह्मसूक्त - शांकरभाष्यरत्नप्रभा पृ0 1577

2- यजुर्वेद- पुरुष सूक्त

3- छान्दोग्योपनिषदभाष्य-अध्याय 4 खण्ड 3

अन्योन्याश्रित संबंध है । प्राण में "प्र" उपसर्गपूर्वक "अन्" धातु जीवन देने वाली है । अतः प्राण जीवन प्रदाता है । यह सभी को स्वीकार्य होगा । जो कुछ प्राण के संबंध में कहा गया है, वही वायु के संबंध में भी कहा जा सकता है ।

वायु विश्वम्भरन का जीवन है । इसी से सृष्टि के विकासक्रम में अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है । अतः सृष्टि के मूल में वायु है । ऐसा पौरस्त्य एवं पाश्चात्य मनीषियों का अभिमत है ।

वायु और वात

वैदिक देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है, पार्थिव वायवीय एवं आकाशीय । इनमें वायवीय देवों में वायु प्रधान देवता है, इसका एक पर्याय वात भी है । वायु और वात दोनों ही भौतिक तत्व एवं देवी व्यक्तित्व के बोधक हैं किन्तु वायु से विशेषकर देवता एवं वात से आँधी का बोध होता है । वायु का प्रसिद्ध विरुद "नियुत्वान" है जिससे इसके सदा चलते रहने का बोध होता है । वायु मन्द के अलावा तीन प्रकार की होता है - 1- धूल पत्ते उड़ाता हुआ, 2- वर्षाकर एवं 3- वर्षा के साथ चलने वाला झंझावात । ये तीनों प्रकार वात के हैं जबकि वायु का स्वरूप बड़ा ही कोमल वर्णित है । प्रातःकालीन समीर ।वायु। ऊषा के ऊपर साँस लेकर उसे जगाता है, ऊषा को जगाने का अर्थ है, प्रकाश की निर्माण देना ,आकाश तथा पृथ्वी को द्युतिमान करना । इस प्रकार प्रभात होने का कारण वायु है, क्योंकि वायु ही ऊषा को जगाता है ।

इन्द्र और वायु का संबंध बहुत निकट है और इस प्रकार इन्द्र तथा वायु युगलदेव का रूप धारण करते हैं । विद्युत एवं वायु वर्षाकलीन गर्जन एवं तूफान में एक साथ होते हैं, इसलिए इन्द्र तथा वायु एक ही रथ में बैठते हैं- दोनों के संयुक्त कार्य का यह पौराणिक व्यक्तीकरण है । सोम की प्रथम घूँट वायु ही ग्रहण करता है । वायु अपने को रहस्यात्मक ।अदृश्य। प्रदान के रूप प्रस्तुत करता है । इसकी ध्वनि सुनाई पड़ती है किन्तु कोई इसका रूप नहीं देखता । वैदिक ऋषिवायु के स्वास्थ्य संबंधी गुणों से सुपरिचित थे । वे जानते थे कि वायु ही जीवन का साधन है तथा स्वास्थ्य के लिए वायु का चलना परमावश्यक है । वात रोगमुक्ति लाता है, तथा जीवनी शक्ति को बढ़ाता है । उसके घर में अमरत्व का कोष भरा पड़ा है । उपर्युक्त हेतुओं से वायु को विश्वभर का कारण, मनुष्यों का पिता तथा देवों का श्वास कहा गया है ।[1]

1-वैदिक धर्म और दर्शन-डा० सूर्यकान्त, प्रथम भाग, अध्याय 9.

वायु के विविध रूप

मरुत-

मरुतगण इन्द्र के साहचर्य में आते हैं । ऋग्वेद में मरुतों की स्तुति संबंधी कुल तैंतीस(33) ऋचायें हैं -पाँचवें मण्डल में ग्यारह-पहले मण्डल में ग्यारह तथा शेष संहिता ग्यारह- इस प्रकार तैंतीस संहिता है । इसके अतिरिक्त अन्य ऋचाओं में उनका उल्लेख अन्य देवों के साथ हुआ है, विशेषकर इन्द्र के साथ । उनके लिए तैंतीस सम्पूर्ण सूक्त, सात इन्द्र के साथ और एक-एक पृथक् और अग्नि के साथ आये हैं । वह रुद्र के पुत्र हैं अत: उन्हें रुद्र या रुद्रिय संज्ञा दी गई है उनकी माता पार्शनि या एक गौ हैं । अग्नि को भी उनका जनक कहा गया है और वे वधित्र के अट्टहास से उत्पन्न हुए हैं । वे स्वर्ग के पुत्र हैं, समुद्र उनकी जननी है, अथवा वे स्वयं भू हैं । वे भाई भाई हैं, जिनकी आयु समान हैं, जिनके जन्म, मन और निवास समान हैं । रोदसी देवी उनकी वधू हैं और इन्द्राणी तथा सरस्वती देवियों से उनका संबंध है ।

मरुतो का आवास तीनों स्वर्गों या तीनों लोकों में है । द्युतिमत्ता उनकी श्वास विशेषता है, अत: उनहे स्पष्ट रूप से अग्नि कहागया है ।[1]

मरुत महान युवा जर्जर अजर वन्य पशुवत् भीषण किन्तु बच्चों की तरह कौतुक प्रिय हैं ।

मरुतों का प्रधान कार्य है वृत्रवध में इन्द्र की सहायता करना । इन्द्र की सहायता करने के स्थान पर यथावसर वृत्र पराभव और गौ विजय के कार्य भी उनमे विशिष्ट कर दिये गए हैं । कभी कभी इन्हें इन्द्र का पुत्र या भाईभी कहा गया है, किन्तु दो या तीन बार अवसर पड़ने पर इन्द्र का साथ छोड़ देते हैं । मरुतों के प्रति रुष्ट अपने एक यज्ञ के क्रम में ऋषि अगस्त्य कठिनाई से इन्द्र का क्रोध शान्त कर पाते हैं ।

1- हिन्दू धर्मकोष-राजबली पाण्डेय, पृ0 498

उनके क्रोध को ठण्डा करने के लिए आई प्रार्थनाओं में उनका रुद्र साथ संबंध-संबंध खिल उठा है, और उसका कई बार उल्लेख भी हुआ है। रुद्र की भाँति उनके भी गो-धन एवं अश्व-धन का कई बार परिचय मिला है। कर्मकाण्ड में वायु से उनका विभेद सोमयाग के संबंध में व्यक्त होता होता है जबकि उनके लिए माध्यन्दिन और सायंकालीन सवन विहित है, वायु के लिए केवल प्रातः कालीन चतुर्भास्य यज्ञ में भी उनका अपना स्थान है।[1]

मरुतों के स्वरूप के विषय में केवल दो ही व्याख्यायें संगत प्रतीत होती हैं।' सबसे अधिक स्वाभाविक व्याख्या के अनुसार वे प्रलयंकर मेघ को धारण करने वाले पवन के देवता हैं। अग्नि एवं विद्युत के साथ इनके अटूट संबंध की व्याख्या करने में केवल पवन अपर्याप्त है। भारतीय परम्परा के अनुसार वे पवन मात्र हैं और वेदोत्तर कालीन साहित्य में वायु का अर्थ केवल "पवन" रह गया है। इनके नाम से इनके आधार पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ पाता, क्योंकि इसमें यद्यपि "मर" धातु कही जा सकती है तथापि इस धातु का अर्थ नितान्त संदिग्ध है। इन देवताओं के विषय में प्रचलित सामान्य मत के अनुसार इसे प्रकाशार्थक अथवा मर्दनार्थक माना गया है। इन्हें यदि केवल द्युतिमान देवता माना जाये तो प्रथम अर्थ ग्राह्य होगा और यदि बनों को कुचलने वाला माना जाये तो दूसरा अर्थ ठीक होगा। इनसे भिन्न मत का आधार मरणार्थक "मर्" धातु को बताया गया है। इनके अनुसार मरुत् प्रेतात्मा माने गये हैं, जो पवन के साथ उत्पात करने वाले माने जाते थे और तत्पश्चात पवन मात्र।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मरुत झंझावात के देवता हैं। इनके स्वभाव का विद्युत्, विद्युत् गर्जन, आँधी तथा वर्षा के रूप में वर्णन किया गया है। वृत्र के मारने में मरुत् ही इन्द्र के सहायक थे। यह आश्चर्य है कि इन्द्र ने अपने मण्डल से बाहर जाकर रुद्रमण्डल में अपने मित्र एवं सहायक ढूंढे क्योंकि रुद्र के पुत्रगण होने के कारण मरुत् रुद्रिय कहलाते हैं।

1.-वैदिक धर्म एवं दर्शन-डा० सूर्यकान्त त्रिपाठी, प्रथम अध्याय.

मातरिश्वा

मातरिश्वन् प्राचीन देवता नहीं हैं । उनका नामोल्लेख समग्र ऋग्वेद में केवल सत्ताईस बार हुआ है, और इनमें से भी इक्कीस बार इनका उल्लेख ऋग्वेद के अर्वाचीनतम भाग में हुआ है । वे पाँच बार तृतीय मण्डल में और एक बार षष्ठ मण्डल में आये हैं । इससे प्रतीत होता है कि वे विश्वामित्र कुल के पूज्य देवता थे । अग्नि के साथ उनका संबंध निकटतम है । अग्नि के लिए उनके नाम का प्रयोग तीन बार हुआ है । अग्नि के विषय में कहा गया है कि "स्वर्ग के गर्भ रूप " में उनका नाम तनूनपात है, उत्पन्न होने पर वे नराशंस बन जाते हैं । मातरिश्वन् के रूप में उत्पन्न होकर वे वायु की तीव्र गति में परिणत हो जाते हैं । उनका तादूपबृहस्पति के साथ भी उभरा है । एक स्नेह में विभक्त करके देखने वाले विप्र इसे अग्नि, यम और मातरिश्वन् कहते हैं । दूसरी ओर अग्नि मातरिश्वन् से पृथक् भी आते हैं । अग्नि उनके और विवस्वन्त के समय प्रकट होते हैं । मातरिश्वन् अग्नि को भृग के पास लाते हैं । वे अग्नि को आकाश से उतारते हैं । उन्होंने अग्नि को घर्षण द्वारा उत्पन्न किया है और मनुष्यों के आवासों में उसे स्थापित किया है । यथावसर उनका उल्लेख इन्द्र के संबंध में हुआ है । वे स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य विवस्वत के सन्देशवाहक बनते हैं ।[1]

श्वि धातु से इस पद की किसी बड़ी उलझन का विषय नहीं है । तृतीय अक्षर पर पड़ने वाला स्वराघात "प्रातरित्वन्" जैसे पदों के सादृश्य के कारण है । अग्नि केसाथ उनके सम्बन्ध को देखते हुए उनका स्वरूप संदिग्ध नहीं रह जाता वे वह अग्नि रहे होंगे, जो पृथ्वी पर अवतीर्ण होता है ।

यजुर्वेद और ब्राह्मणों में मातरिश्वा अग्नि के नहीं, वायु के देवता हैं । उनके इस स्वरूप का संकेत स्वयं ऋग्वेद में मिलता है, जहाँ सीमा रहित

1- वैदिक धर्म एवं दर्शन -डा० सूर्यकान्त प्रथम भाग, अध्याय-9

और भ्रमणशील विशेषण उनके लिए आये हुए हैं। हिलेब्रांण्डेट के अनुसार मातरिश्वन् का स्वरूप वायु विषयक धारणा पर आधृत है। अपने मत की पुष्टि के लिए दावाग्नि की दौड़ में वायु के महत्व की ओर भारत में आंधी के स्वरूप की ओर रोचक ध्यान आकृष्ट भी करते हैं। उनका अनुमान है कि वायु और अग्नि को एक रूप समझने की प्रवृत्ति स्वयं ऋग्वेद में रही होगी। यह प्रवृत्ति अग्नि के साथ मातरिश्ववा के संबंध को स्पष्ट करती है। इस मत के विरुद्ध एक विप्रतिपत्ति उठाई जा सकती है कि यह अग्नि के साथ मातरिश्वा के तात्त्विक संबंध की अवहेलना करता है जो उनके स्वरूप की सबसे कठिन महत्वपूर्ण बात है। इसके अतिरिक्त अग्नि देव से वायु देव में परिणति कठिन भीतो नहीं है। ऐसी परिणति का बीच स्वयं ऋग्वेद में मिलता है, जहाँ स्वयं अग्नि को प्रवहण शील वायु के रूप तुल्य बतलाया गया है।

रुद्र

रुद्र की व्युत्पत्ति रुद्र धात से है जिसका अर्थ चिल्लरनर है। रुद्र काअर्थ लाल होना अथवा चकचकना भी होता है। रुद्र प्रकृति की उस शक्ति के देवता है, जिसका प्रतिनिधित्व झंझावात और उसका प्रचण्ड गर्जन-तंजन करता है। रुद्र का एक अर्थ भयंकर भी होता है। परन्तु रुद की चिल्लाहट और भयंकरता के साथ उनका प्रशान्त और सौम्य रूप भी वेदों में अर्पित है। वे केवल ध्वंस और विनाश के ही देवता नहीं, स्वास्थ्य और कल्याण के भी देवता हैं। अतः रुद्र की कल्पना में शिव के तत्व निहित थे, इसलिए रुद्र को बहुत शीघ्र मिल गया और उनकी गणना त्रिदेवों (त्रिमूर्ति) में शिव तथा महेश के रूप में होने लगी।[1]

ऋग्वेद में रुद्र का निकट संबंध मरुतों के साथ है। जिनके वे पिता हैं और जिन्हें प्रातः रुद्र या रुद्रिय कहा गया है। एक बार उनके लिये

1- वैदिक धर्म एवं दर्शन- प्रथम भाग, अध्याय-9, डा० सूर्यकान्त.

त्र्यम्बक विशेषण भी आया है, जिसका अर्थ तीन बहनों या माताओं वाला प्रतीत होता है । यजुर्वेद के एक मन्त्र से ज्ञात होता है कि वे निर्जन जंगलों में बसने वाले देवता है । वृक्षों के साथ उनका निकट संबंध है, जिन पर वे अपने हथियार टाँगते हैं । उनकी शक्ति का इतना विस्तार हो गया है कि उनका प्रभाव क्षेत्र जलों, मत्स्यों, पशुओं और समस्त वनस्पति जगत् सभी पर समान रूप से छा गया है । इसका कारण जनता को एक ऐसे देवता की चाह थी, जिसमें समस्त प्रकृति पर शासन करने की क्षमता हो । उत्तर-कालीन सूत्र साहित्य में उनके लिए हर, मृड, शिव और शंकर आदि नामों का प्रयोग मिलता है । जिनमें से अन्तिम तीन नामों का प्रयोग स्पष्टतः उन्हें मृदु बनाने के लिए किया गया है । प्रभूत और भीषण देवता को असली कल्याण के लिए शिव समझना चाहिए ।

रुद्र, रुद्रो (बहुवचन) रुद्रियो तथा मरुतों के पिता है । रुद्र मरुतों में पारिवारिक समानता है, क्योंकि पिता और पुत्रगण दोनों सोने के आभूषण धारण करते हैं, धनुष बाण इनके आयुध बज्रबाहु कहा गया है, जबकि इन्द्र सदा बज्रबाहु हैं । बिजली की क्रोध और चमक बादल का गर्जन एवं इसके पश्चात् जलवर्षण इन्द्र का कार्य है । परन्तु जब बज्रपात से मनुष्य अथवा पशु मरता है, तो यह रुद्र का कार्य समझना चाहिए । इन्द्र का बज्र सदा उपकारी है, रुद्र का आयुध विध्वंसक है परन्तु रुद्र के भयंकर विध्वंस के पश्चात गंभीर शान्ति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है इसलिए उनका विध्वंसक रूप होते हुए भी उनके कल्याणकारी रूप (शिव) की प्रार्थना की जाती है । अन्य देवताओं के द्वारा किये गए उपकार को दूर करने के लिए भी उनसे प्रार्थना की जाती है ।

पुराणों में रुद्र के शिवत्व की महत्ता बढ़ी यद्यपि उनका विध्वंस रूप शिव के अन्तर्गत समाविष्ट रहा एकादश रुद्रो और उनके गणों की विशाल कल्पना पुराणों में पाई जाती है ।

प्राण और सूर्य, सूर्य की ऊर्जा, प्रजा की प्राणवत्ता

प्राण और सूर्य परस्पर समान ही हैं क्योंकि यह प्राण उष्ण है और सूर्य भी उष्ण है तथा इस प्राण को "स्वर" ऐसा कह कर पुकारते हैं और इस सूर्य को भी "स्वर" एवं "प्रत्यास्वर" ऐसा कहते हैं, क्योंकि प्राण तो केवल स्वरण (गमन) ही करता है- मरने के पश्चात वह पुनः लौटता नहीं किन्तु सूर्य प्रतिदिन अस्तमित ही होकर लौट आता है इसलिए वह प्रत्यास्वर है। इस प्रकार गुण और नाम से भी ये प्राण और सूर्य एक दूसरे के समान ही हैं।[1]

सूर्य के तेज से सब पदार्थ तेजस्वी हो रहा है इससे बढ़कर कोई भी अन्य वायु ओद नहीं है। इस हेतु सूर्य वायु आदि पदार्थों को बाँधकर वर्त्तता है। अतः यह आदित्य "अतिष्ठा" कहलाता है जैसे सब प्राणियों का प्रकाश अपने मस्तक से होता है अर्थात सकल ज्ञानके प्रवाह का स्थान मस्तक है। मस्तक के बिगड़ने से मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, मस्तक के ठीक रहने से आदमी आदमी कहलाता है। उसी प्रकार यदि इस जगत् में सूर्य न हो तो इस संसार की व्यवस्था कदापि ठीक नहीं रह सकती। पृथ्वी, वायु, चन्द्र आदि सब ही नष्ट हो जायें। सूर्य ही अपनी आकर्षण शक्ति से और प्रकाश देकर इस सौर जगत् को धारण किये हुए हैं इसलिए सूर्य को "मूर्धा" कहा गया है। अथवा प्राणियों को जो यह मूर्धा बना हुआ है इसका कारण सूर्य ही है।[2]

प्रश्नोपनिषद् में भी प्राण और सूर्य का संबंध बतलाया गया है। सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों में जो जीवनी-शक्ति है, उसके साथ सूर्य का संबंध दिखलाते हुए कहा है कि रात्रि के बाद जब सूर्य उदय होकर पूर्व दिशा में अपना प्रकाश फैलाता है उस समय वहाँ के प्राणियों को अपनी किरणों में धारण करता है अर्थात् उनकी जीवनी शक्ति का सूर्य की किरणों से संबंधी होकर उसमें नवीन

1-छान्दोग्यउपनिषद-तृतीय खण्ड, पृ० 41

2- बृहदारण्यकोपनिषद-द्वितीय अध्याय, पृ० 144

स्फूर्ति आ जाती है उसी प्रकार जिस समय जिस दिशा में जहाँ जहाँ सूर्य अपना प्रकाश फैलाता है, वहाँ वहाँ प्राणियों को स्फूर्ति देता रहता है अतः सूर्य ही समस्त प्राणियों का प्राण है।[1]

प्राणियों के शरीर में जो वैश्वानर नाम से कही जाने वाली जठराग्नि है, जिससे अन्न का पाचन होता है, वह सूर्य का ही अंश है अतः सूर्य ही है तथा जो प्राण, अपान, समान, व्यान, और उदान इन पाँच रूपों में विभक्त प्राण है, वह भी उदय होने वाले सूर्य का ही अंश है अतः सूर्य ही है। इस सूर्य के तत्व को जानने वालो का कहना है कि यह किरण जाल से मण्डित एवं प्रकाशमय तनता हुआ सूर्य विश्व के समस्त रूपों का केन्द्र है। सभी रूप (रंग और आकृतियाँ) सूर्य से उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं। यह सूर्य ही सबकी उत्पत्ति का स्थान है और यही सबकी जीवन ज्योति का मूल स्रोत है। यह सर्वज्ञ और सर्वाधार है। वैश्वानर, अग्नि और प्राणशक्ति के रूप में सर्वत्र व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है। समस्त जगत् का प्राण रूप सूर्य एक ही है - इसके समान इस जगत् में दूसरी कोई भी जीवनी शक्ति नहीं है। यह सहस्रों किरणों वाला सूर्य हमारे सैकड़ों प्रकार के व्यवहार सिद्ध करता हुआ उदय होता है। जगत् में उष्णता और प्रकाश फैलाना सबको जीवन प्रदान करना ऋतुओं का परिवर्तन करना आदि हमारी सैकड़ों प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टि का जीवनदाता प्राण ही सूर्य के रूप में उदित होता है।

परब्रह्म परमेश्वर के प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर स्वरूप इस सूर्य के विषय में कितने ही तत्ववेत्ता तो यों कहते हैं कि इसके पाँच पैर हैं[2] अर्थात् छः ऋतुओं में से हेमन्त और शिशिर- इन दो ऋतुओ की एकता करके पाँच ऋतुओं को वे इस

1-प्रश्नोपनिषद-प्रश्नोपनिषदीय प्राण विद्या।

2- वही.

सूर्य के पाँच चरण बतलाते हैं, तथा यह भी कहते हैं कि बारह महीने ही इसकी बारह आकृतियाँ अर्थात् बारह शरीर हैं । इसका स्थान स्वर्गलोक से भी ऊँचा है। स्वर्गलोक भी इसी के आलोक से प्रकाशित है । इस लोक में जो जल बरसता है उस जल की उत्पत्ति इसी से होती है, अतः सबको जलरूप जीवन प्रदान करने वाला होने से यह सबका पिता है । दूसरे ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि लाल-पीले आदि लाल रंगों की किरणों से युक्त तथा बसन्त आदि छः ऋतुओं के हेतुभूत इस विशुद्ध प्रकाशमय सूर्यमण्डल में जिसे सात चक्र एवं छः अरों वाला रूप कहा गया है- बैठा हुआ इसका आत्मारूप, सबको भलीभाति जानने वाला सर्वज्ञ परमेश्वर ही उपास्य है । यह स्थूल नेत्रों से दिखाई देने वाला सूर्य मण्डल उसका शरीर है, इसलिए यह उसी की महिमा है ।

====